हिन्दी आलोचना का वर्तमान

संपादिका
डॉ. के. श्रीलता विष्णु

अमन प्रकाशन, कानपुर

HINDI AALOCHANA KA VARTMAN

Edited by : Dr. K. Srilatha Vishnu

Rs. Four Hundred Fifty only

ISBN : 978-93-85389-40-5

पुस्तक	:	हिन्दी आलोचना का वर्तमान
संपादिका	:	डॉ. के. श्रीलता विष्णु
प्रकाशक	:	अमन प्रकाशन 104A/80C रामबाग, कानपुर – 208012 Ph. 0512-2543480 (Off.) 0512-2543480 (Fax) Mob. 09839218516, 08090453647
संस्करण	:	प्रथम, 2015
©	:	संपादिकाधीन
मूल्य	:	₹ 450.00 मात्र
शब्द–सज्जा	:	रिचा ग्राफिक्स, नौबस्ता, कानपुर
मुद्रक	:	साक्षी आफसेट, यशोदा नगर, कानपुर

3

इक्कीसवीं सदी का समय और हिंदी कविता

-रवीन्द्रनाथ मिश्र

मानव इतिहास की दृष्टि से 20वीं सदी का अंतिम दशक वैश्विक क्रांति का दशक था। जिसने सामाजिक परिवर्तन की मन्थर गति की परिभाषा को बदला और 21वीं सदी ने उसे झकझोर कर रख दिया। मेरी समझ से इतना तेज परिवर्तन शायद इससे पहले कभी नहीं हुआ था। हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं धार्मिक व्यवस्था का ताना-बाना 24 जुलाई 1991 से मुक्त बाजार की आर्थिक अवधारणा से बिखरने लगा। हमारे 'वसुधैव-कुटुम्बकम' की उदात्त भावना की जगह भूमंडलीकरण के बाजारवाद ने ले लिया। फलस्वरूप मनुष्य की अपेक्षा वस्तु का महत्व बढ़ गया। बाजारवाद की चमकीली मायावी दुनिया में इंसान उलझता जा रहा है। युवा पीढ़ी की तो जीवन शैली ही बदलती जा रही है। ममता कालिया ने इस बात को 'दौड़' उपन्यास के प्रमुख चरित्र पवन के माध्यम से सशक्त अभिव्यक्ति दी है। उनका मानना है कि ''आर्थिक उदारीकरण ने भारतीय बाजार को शक्तिशाली बनाया। इसने व्यापार प्रबंधन की शिक्षा के द्वार खोले और छात्र वर्ग को व्यापार प्रबंधन में विशेषता हासिल करने के अवसर दिए। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने रोजगार के नए अवसर प्रदान किए। युवा-वर्ग ने पूरी लगन के साथ इस सिमसिम द्वार को खोला और उसमें प्रविष्ट हो गया। वर्तमान सदी में समस्त अन्य वाद के साथ एक नया वाद आरंभ हो गया, बाजारवाद और उपभोक्तावाद। इसके अंतर्गत, बीसवीं सदी का सीधा-सादा खरीददार एक चतुर उपभोक्ता बन गया।'' (दौड़, पृष्ठ 5)

आधुनिकीकरण का एक दूसरा निर्मम रूप पूंजीवाद का उत्थान, अंध औद्योगिक विकास, यंत्रीकरण और मीडिया विस्फोट से हुआ। फलस्वरूप परिवेशगत ढांचा कुछ इस तरह बिगड़ने लगा कि अब तो लगता है कि 'रहना नहिं देश बिराना है।' अब तो आराम से खाकर सोने वालों की संख्या ज्यादा हो गई है। कबीर की भांति रोने और जागने वाले कोई बिरले ही होंगे। अशोक वाजपेयी ने कबीर के उसी भाव को 'जागै अरु रोवै' नामक कविता में व्यक्त किया। ''खाकर वे सो रहे हैं / जागकर हम रो रहे हैं।/क्या यह तय था/ कि ज्यादातर सोएं/ कि कुछ ही जागें और रोएं?/सोने वालों में से कुछ की नींद में / क्या कोई सपने नहीं जागते, / कोई विलाप नहीं उभरता?/ कविता सब कुछ के बीतने पर/अविरल विलाप है-/पर जो हंस- खेलकर/अपने दिन

बिताना चाहते हैं/वे क्योंकर इस विलाप पर ध्यान दें?।'' (कहीं कोई दरवाजा, पृ-99)

घर-परिवार, भाई-बन्धु, हित-दोस्त, देश, समाज, राजनीति, धर्म आदि की हालत में आमूल-चूल परिवर्तन हो रहा है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण पंजाब के निवासी हरपाल और उनकी पत्नी शील को अपनी ही पुत्रियों द्वारा जिस दारुण दु:ख को झेलना पड़ता है, उसका बड़ा बेबाक एवं यथार्थ चित्रण रवीन्द्र कालिया जी ने अपने उपन्यास 'ए.बी.सी.डी.' में किया है जहां मानवीयता, संवेदनशीलता और मूल्यवत्ता का कोई स्थान नहीं रह गया है। आज हम परिवार और समाज में ठगे से घूम रहे हैं। पश्चिमी संस्कृति और बाजारवाद के कारण सारे मानवीय रिश्ते पूंजी पर अवलंबित हो गए हैं : ''आर्थिक जगत में पूंजी का दर्शन मनुष्य को सिर्फ रौंदने पर यकीन रखता है। उसे गुलाम बनाने पर विश्वास करता है। मनुष्य उसके लिए सिर्फ उसकी पूंजी या उत्पादन बढ़ाने का साधन मात्र है। उसके बाजार के लिए सिर्फ उपभोक्ता है। बिल्कुल ठीक इसी जगह साहित्य से इन सबकी टकराहट शुरू हो जाती है, क्योंकि साहित्य का सरोकार मनुष्य है।'' (प्रियंवद-नवभारत टाइम्स-1 सितम्बर-2013)

कृषि प्रधान और स्वावलंबन का देश तकनीकी और यंत्रवत की दुनिया में तब्दील हो गया है, जहां हमारी भाषा, संस्कृति, वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान, पठन-पाठन और जीविकोपार्जन पर पश्चिमी संस्कृति हावी है। संयुक्त परिवार टूट कर हम दो हमारे एक तक सीमित हो गया है और अब तो स्थिति यह बन रही है कि हम केवल हमीं हम। सृष्टि के विकास की पुण्य परंपरा विवाह और आपसी पारिवारिक एवं सामाजिक रिश्ते क्रमश: लिव इन रिलेशन और दिवस में परिवर्तित हो गए हैं। कारण यह है कि हम विज्ञान, मीडिया और बाजारवाद के कारण यंत्रों और वस्तुओं के बीच दिग्भ्रमित हो गए हैं। और समझ में नहीं आ रहा है कि क्या करें? मनुष्य से अधिक वस्तुओं का महत्व हो गया है। अब तो स्थिति यह है कि मेहमान के आने से ज्यादा खुशी घर में कोई नया सामान आने से होती है। घर का विचारवान वरिष्ठ व्यक्ति मसखरे का शिकार हो रहा है। 'चीफ की दावत', 'वापसी', 'दौड़' 'ए. बी. सी. डी.' 'आधे-अधूरे' जैसी रचनाएं पारिवारिक रिश्तों की एक अलग झांकी प्रस्तुत करती हैं। आज तो स्थिति यह है कि भोग-विलास की प्रवृत्ति ने पवित्र मानवीय रिश्तों को भी तार-तार कर दिया है। ''हमने अपने को नष्ट करने का/कितना सामान इकट्ठा कर लिया/ किसी दूसरे के लिए कहां छोड़ी गुंजाइश / जुटे हैं इतिहास खोह से / इस बाजार समय तक इसी में हम / जो बचा सकता है हमें! मसलन प्रेम/ वह इन दिनों / कर दिया गया चलन से बाहर'' (कहा उसने और हंसा, -प्रताप राव, कदम-84)

आज हमारे समाज में रावणों के अनेक रूप दिखाई दे रहे हैं। राम ढूंढ़ने से

भी नहीं मिलेंगे। सीता जैसी पत्नी और भरत जैसा भाई की सोच गायब हो गई है। गांधी जी ने व्यक्ति और राजनीति की पवित्रता के लिए धर्म को आवश्यक माना था। धर्म हमें नीतिगत शुचितापूर्ण जीवन का मार्ग दिखाता है। आज धर्म और राजनीति भोग-विलास और धन-संग्रह का केन्द्र बन गया है। मानवीय मूल्यों की चीर खींची जा रही है लेकिन बुद्धिजीवी वर्ग संकीर्ण स्वार्थो के वशीभूत होकर तमाशा देख रहा है :

"वे सब के सब तिजोरियों के/दुभाषिये हैं।
वे वकील है। वैज्ञानिक हैं।/अध्यापक हैं।
नेता हैं।/दार्शनिक हैं।/लेखक हैं। कवि हैं।
कलाकार हैं।/यानि कि-
कानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।"

(संसद से सड़क तक-धूमिल,पृ-126)

आगे धूमिल लिखते हैं- "और बाबू जी! असल बात तो यह है कि जिन्दा रहने के पीछे / अगर सही तर्क नहीं है/ तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की/दलाली करके रोजी कमाने में/कोई फर्क नहीं है।" (वही-पृ-40) मुक्तिबोध ने भी किसी प्रसंग में कहा था कि "अपनी आत्मशांति को नष्ट किए बगैर कोई कवि नहीं हो सकता।" इसी बात को कबीर ने छः सौ साल पहले ही घर फूंक तमाशा देख और दुखिया बनकर जागने और रोने की बात कही थी। वस्तुतः आज वह आधुनिकीकरण एवं पूंजीवाद के मायाजाल में यह कथन हास्यास्पद बनकर रह गया है। समाज में कोई बिरला व्यक्ति ही होगा जो कि समाज के लिए अपना सुख-चैन गायब करना चाहता है। अब तो सुख-चैन के लिए तरह-तरह के छलावे और हथकंडे अख्तियार किए जा रहे हैं ताकि जीवन के सारे भोगों को बिना कुछ किए ही प्राप्त किया जा सके।

जीवन के चारों पुरुषार्थों में अर्थ प्रधान हो गया है। अर्थ की प्रधानता के कारण सैर-सपाटे और भोग-विलास की प्रवृत्ति बढ़ रही है। जिसके कारण व्यक्ति, समाज संस्कृति, राजनीति, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि के अर्थ बदल गए हैं। पूंजी की वर्चस्वता में नैतिकता नहीं फूलती-फलती। आज पूंजीवाद और भूमंडलीकरण के दौर में नव-उदारवादी लोकतंत्र का उदय हो रहा है जोकि पूंजीवाद के विस्तार के लिए कटिबद्ध है। "गांधी जी की दृष्टि में लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं है, वह सामाजिक और नैतिक व्यवस्था भी है, लेकिन पूंजीवाद केवल लाभ की चिंता करता है। वह लाभ के रास्ते में विरोधी के रूप में आने वाली किसी भी सामाजिक, नैतिक और मानवीय स्थिति की परवाह नहीं करता, इसलिए भारत का वर्तमान लोकतंत्र सामजिक न्याय, नैतिक उत्थान और मानवीय यातना की कोई चिंता नहीं करता। आज के भारतीय लोकतंत्र में केवल पूंजीवाद के प्रसार की चिंता है।

समाज में लोकतंत्र के विकास की, जनता के स्वतंत्र रूप से जीने, सोचने और कुछ कहने के अधिकारों की नहीं। (यंग इंडिया, पृष्ठ 91-92)

इक्कीसवीं सदी में मनुष्य दिन-प्रतिदिन अर्थ पिशाच होता जा रहा है। इससे उसकी अन्य अमानवीय हरकतें बढ़ रही हैं, जिससे समाज में संवेदनशीलता बढ़ रही है। इसमें तकनीकी विकास भी पूंजीवाद का पर्याय बनता जा रहा है। टेक्नोलॉजी अपना वैश्विक रूप धारण कर प्राकृतिक एवं बौद्धिक सम्पदा का दोहन कर, उपभोक्ता संस्कृति का व्यापक प्रचार कर रही है। इसका बुरा प्रभाव हमारी जनसंस्कृति पर पड़ रहा है। इतिहास गवाह है कि हर युग का साहित्य एवं दूसरी रचनात्मक विधाएँ संस्कृति के करीब रही हैं और आज भी हैं लेकिन तकनीक और पूंजी के कारण उसमें दरार आ रही है। अर्थ युग की प्रधानता के विषय में प्रभाकर श्रोत्रिय का अभिमत है- "हमारा युग अर्थ युग है। अन्य दिशाओं को सहेजे बिना वह कृतकार्य नहीं हो सकता। अर्थशात्र कभी रहा होगा आंकड़ों का खेल, आज वह समाज, राजनीति, संस्कृति, विज्ञान और तमाम तरह के जीवन-संबंधों से जुड़े बिना चल नहीं सकता। उसे खुद बाजार की तेजी-मंदी, मांग-पूर्ति, उत्पादन-वितरण तक ही नहीं अर्थ के समस्त प्रभावों, प्रवृत्तियों, संबंधों, नैतिक मूल्यों से जुड़कर अपनी सर्जक और संहारक शक्तियों को पहचानना होगा।" (समय का विवेक, पृ. 50)

साहित्य सदियों से मनुष्य की बेहतरी एवं सामाजिक सरोकारों से जुड़ा रहा है। यहां मैं प्रेमचंद के विषय में कहना चाहता हूँ कि वे गांधीजी की तरह ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें किसी प्रकार की विषमता न हो। उन्होंने विशेष रूप से किसानी जीवन के विभिन्न आयामों को बड़ी कुशलता से उकेरा है। वस्तुतः प्रेमचंद सच्ची लोकदृष्टि, संकल्प, संवेदन, संघर्ष और अनवरत कर्मठता का नाम है। यही कारण है प्रेमचंद ने हिन्दी साहित्य के समाज में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के समाज में अपनी पैठ बनाई। आज के समय और समाज की बात करें तो एक दूसरा ही चरित्र उभरकर सामने आता है। इस संदर्भ में लीलाधर जगूड़ी का कहना है- "मेरे इर्द-गिर्द इक्कीसवीं के दूसरे दशक का चेहरा एक ओर फिर अपने-अपने धर्म से मनुष्य की पहचान का दुराग्रह कर रहा है दूसरी ओर भ्रष्टाचार और अकूत संपदा की दुनिया में न धर्म का दखल है, न जातिवाद का। राजनीति का सीधा दखल हर चीज में दिखता है, लेकिन बुरी चीजों में ज्यादा। राजनीति बुराई के साथ ज़्यादा दिख रही है। सुधार की राजनीति से कहीं ज़्यादा शक्तिशाली बिगाड़ की राजनीति हो गई हैं। सिद्धांत सबके विलुप्त या रूपांतरित हो गए हैं।

विचारधारा की तरह चोटियों पर/ कहीं-कहीं बची है बर्फ
विचारधारा के बिना भी/ठंड की तानाशाही कायम है।

(नवभारत टाइम्स-7 जुलाई-2013)

हमारा वर्तमान समय मुक्तिबोध की 'भूल गलती' और 'अंधेरे में....' कविता का दृश्य पैदा कर रहा है लेकिन हम विवश है अपनी सुविधा भोगी जिन्दगी के मोह में। हम व्यक्ति या राष्ट्र के रूप में चाहे जितनी बात सार्वभौमिकता, नैतिकता, सर्वजन हिताय आदि की कर लें लेकिन हमारी सोच में दीमक लग गया है। फलस्वरूप जीवन की खुशी फुर्र हो गई है :

खुश होना मैं तो भूल गया/ हाथ हिलाकर देखा
क्या खुशी खुशी यह हुआ?/कंधे उचकाये
घूम-घूमकर देखा!!/घर के अंदर जब सभी लोग थे
हंसने लगा अचानक/फिर भी बात नहीं बनी।

(सब कुछ होना बचा रहेगा -विनोदकुमार शुक्ल, पृ. 121)

वस्तुत: आज हंसने-हंसाने के अवसर दुर्लभ होते जा रहे हैं। अब तो प्रयास करके हंसना पड़ता है या तो कोई हंस रहा है तो उसका साथ देना जरूरी हो जाता है। हमारी सामूहिक हंसी गायब हो गई है। आज भी मुझे बचपन की अभाव भरी जिन्दगी में ठहाकों भरी हंसी याद है। अब तो हास्य की संस्थाओं और दूरदर्शन के विभिन्न चैनलों के माध्यम से लोग कभी बनावटी तो कभी स्वाभाविक हंसी का आनंद उठा लेते हैं। उन्नीसवीं सदी में एक कंपनी ने हमारी मूल आर्थिक व्यवस्था को हिलाकर रख दिया था और आज तो सैकड़ों कंपनियां शेषनाग की तरह मुंह फैलाए खड़ी हैं। राजेश जोशी का विचार है कि "जब शक्तियाँ और महाशक्तियाँ अपने सारे हथियारों और काइयांपन के साथ जनता के आंदोलनों, उसके सपनों और महास्वप्न के विध्वंस में लगी हों, तो जनता को और उसके साथ अपनी प्रतिबद्धता रखने वालों को सत्ता की इन मंशाओं का ध्वंस करना जरूरी है। क्या हम सचमुच कोई ऐसी कविता लिख पा रहे हैं जिससे चाहे सत्ता का तिलिस्म न टूटे, लेकिन कम-से-कम हमारे भीतर बैठा कायर तो टूट सके।" (नवभारत टाइम्स-28 अप्रैल, 2013) साहित्य का सहितस्य एवं मंगल का भाव समाप्त हो चुका है। व्यक्ति एवं समाज को दिशा देने वाला साहित्य पुस्तकालयों में दीमक की भेंट चढ़ रहा है।

आज हमारे सामने व्यक्ति, समाज, धर्म, संस्कृति और राजनीति का विद्रूप रूप सामने हैं। सब कुछ बाजार की भेंट चढ़ रहा है। स्वप्निल श्रीवास्तव अपनी लंबी कविता 'गायब होने वाले आदमी' के बारे में लिखते हैं- समाजशास्त्री बताते हैं/गायब होने वालों/के पीछे बाज़ार की भूमिका है/यह बात थोड़ी सही लग सकती है/क्योंकि हमारे कस्बें में अभी बन रहा है/बाजार/ मैंने देखा है खेती के लिए गायब हो/ रही है जमीन।" (पहल-92, पृ.107) महानगरों की आभिजात्यीय मॉल संस्कृति अब कस्बों तक पहुंच रही है और इसके सामने छोटे व्यापारी गायब होते जा रहे हैं। बाजार आपस के मेलजोल की जगह थी जहां सामान खरीदने के साथ-साथ एक-दूसरे की

खैर-खुशी पूछी जाती थी। उक्त कविता में श्रीवास्तवजी अपने समय की खोज खबर लेते हुए कहते हैं- "दुखद समाचार यह है कि ज़्यादातर/बच्चे गायब हो रहे हैं / जिस समाज से बच्चे गायब हो रहे हों / वह कितना असुरक्षित समय है।" (वही) आज बच्चे गायब ही नहीं हो रहे हैं बल्कि बच्चे-बच्चियां बेचे जा रहे हैं और उनकी गुमनाम ढंग से हत्याएं हो रही हैं। वे भोग का शिकार बन रही हैं। मानवता पशुता में बदल रही है।

इब्बार रब्बी की 'सुंदर स्त्रियां' कविता में सुंदर स्त्रियों से सवाल है-"सुंदर स्त्रियां कहां रखती हैं/अपना सौंदर्य!/ सुंदरी कहां टांगती हो/ अपने सपने!/ कहां रखती हो अपनी चितवन, / अपनी मुस्कान/ सोते समय!/ अपना सौन्दर्य कहां रखती हैं / स्त्रियां।" (वर्षा में भीगकर पृ. 58) समय की भयावहता का जिक्र करते हुए हरीशचन्द्र पाण्डे कहते हैं कि "ये कल की तारीख में लोगों के मारे जाने के समाचार नहीं / कल की तारीख में मेरे बचकर निकल जाने के समाचार हैं (भूमिकाएं खत्म नहीं होतीं, पृ. 14) कवि का मानना है कि आज हम ऐसे समय में जी रहे हैं जहां वाक्य के अर्थ बदल गए हैं : "नीचे खाई / ऊपर वाक्य/वाक्य का एक-एक शब्द गुंथा हुआ/सुई के शक्ति परीक्षण के बाद सा / फिर भी / एक अक्षर टूट गया /-गहरी खाई में खो गया/शब्द आहत हुए / वाक्य लंगड़ा गया।" (वही -पृ-111)

शंभुनाथ लिखते हैं कि "आधुनिकीकरण की बड़ी परियोजनाओं ने समाज में दमनमूलक सत्ता के नए रूपों का निर्माण किया है। इन रूपों में नव-केन्द्रीकरण, भौतिकवादी जीवन शैली और संस्कृति उद्योगों का विस्तार मुख्य है। वर्चस्व के ये रूप मनुष्य को नगण्य बना देते हैं, कला को मास कल्चर का अंग बना लेते हैं और साहित्य का अवमूल्यन करते हैं। एक और चीज घटित होती है, भाषा मुख्यतः सत्ता का खिलौना बन जाती है। वह बाजार या राजनीति के संकेतों में ढलने लगती है।" (कवि की नई दुनिया, पृ-43) आज हम धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य आदि को बौद्धिकवाद की तर्क की कसौटी पर कसते हैं। जीवन और राजनीति से धर्म का लोप होने से नैतिकता के बंधन ढीले पड़ने लगते हैं। राजनेताओं के चरित्र का बयान करते हुए ज्ञानेन्द्रपति लिखते हैं- "सचमुच पहचानों/नरसंहार के बाद जो दूर-दूर से जुड़ते हैं/उन्हें पहचानों/घुटनों में सर दे कर बैठे हुए हरिजन टोले ! तुम्हारी आंखों में उस रात से बसी हुई है जो आग/ उसके भीतर से देखो/आग के उस तरह जो तमतमाये उन्मत्त चेहरे/देखे थे तुमने/ ये ललाये चेहरे/ उन्हीं के भाई-बंद हैं/हाथ में मशाल नहीं कैमरा लिये।" (भिनसार, पृ-120)

हमारे आसपास जो चल रहा है, वह बहुत भयानक है। यह भयानक और दहशतभरी सदी में कई राक्षसी शक्तियां मुग्ध मुखौटों के साथ आ रही हैं और जनता उनके मायावी रूप पर मोहित होकर उनके वशीभूत हो रही है। भारत की जनता की

एक खूबी है कि उसमें सहनशक्ति का अपार भण्डार है। शब्द उनको जगाने में असमर्थ हैं। कुछ शक्तियां ऐसी हैं जोकि शब्दो को भी खरीद लेती हैं। आज तो आदमी भी बिकाऊ माल में तब्दील हो गया है। अभी हाल में एक समाचार आया था कि महानगरों में एक ऐसा गिरोह पकड़ा गया है जो कि बच्चों और लड़कियों को बेचने का कार्य करता है। चंद्रकांत देवताले के काव्यसंग्रह का 'लकड़बग्घा हंस रहा है' किसी में हिम्मत है कि उसे रोक दे। देवताले ने आज के समय पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "कॉरपोरेट घरानों ने सत्ता, प्रशासन और मीडिया को कब्जे में ले विकट महाबाजारवाद को फैलाया। भ्रष्टाचार और अपराध इसी पूंजी माफिया की उपज हैं। भ्रष्टाचार राजनीतिक-प्रशासनिक-व्यापारिक गढ़ों और संस्था-संस्थानों पर कृपा वृष्टि करता है। आज देशीयता, संस्कृति, विचार अपनी भाषा-पहचान और जड़ों सहित विस्मृति की विराट वॉशिंग मशीन में डाल दिए गए हैं।" (नवभारत टाइम्स, 29 सितम्बर, 2013)

इक्कीसवीं सदी के अन्धाधुन्ध बाजारीकरण और अपसंस्कृति के शोरगुल में साहित्य और विचारों के अंत की बात कही जा रही है। सूर्यबाला मानती हैं कि "शब्दों की सतह पर बेशुमार भीड़-भाड़ और सरगर्मी के बावजूद, समाज और मनुष्य के हितों से ज़्यादा अपनी स्थापनाओं से जुड़े स्वार्थ और हित आड़े आ रहे हैं। आग्रहों-पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों की भूमिकाएं आज शायद ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई हैं। जीवन मूल्यों पर होते प्रहारों का प्रतिरोध हमारी प्राथमिकताओं में शामिल नहीं है। लेखन में भी काफी बारीक चालाकियां बरती जा रही हैं। अब जैसे यही कि स्त्री-लेखन की नई पौध को उकसाया जाना कि तुम्हारी आज़ादी का रास्ता तुम्हारी देह से होकर गुजरता है और यह भी कि बोल्ड और दुस्साहसी लेखन ही उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता की प्रामाणिकता सिद्ध करता है।" (नवभारत टाइम्स, 14 जुलाई, 2013)

आज साहित्य और मीडिया के माध्यम से जिस नारी देह का जिस रूप से प्रदर्शन किया जा रहा है, उससे एक तरह की अपसंस्कृति का विकास हो रहा है। समाज में नारी को अपने मौलिक अधिकारों की मांग का यह कतई तरीका नहीं है कि स्वतंत्रता के नाम पर देह प्रदर्शन को बढ़ावा दें। इसी प्रकार दलित साहित्य का उद्देश्य यह नहीं होना चाहिए कि प्रतिरोध की संस्कृति का जन्म हो। हम सभी यह मानते हैं कि जो कुछ भी हुआ वह गलत था लेकिन वह सब तत्कालीन परिस्थितियों के कारण हुआ। हम भारतीय संस्कृति और सभ्यता को सुरक्षित रखने में हठधर्मिता की वकालत न करें लेकिन उसके तौर-तरीकों पर भी अवश्य ध्यान दे। विडम्बना इस बात की है कि हम जिन आदर्शों, मूल्यों और नीतियों की बात करते हैं और जब स्वयं किसी पद पर आते हैं तो उन्हें तोड़ना शुरू कर देते हैं।

वैसे भी आज के भूमंडलीकरण के दौर में हम चीजों को दबा कर नहीं रख

सकते। अब तो भाषा, साहित्य, सिनेमा, खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, खेलकूद, बाजार, बैंक, मॉल, वाहन, विज्ञान, रोजमर्रा की चीजें आदि सब कुछ का वैश्वीकरण हो गया है। वस्तुतः भूमंडलीकरण की प्रक्रिया पहले भी गतिमान थी लेकिन आज की तरह नहीं। भालचंद्र नेमाडे का मानना है कि "साहित्य और भूमंडलीकरण दो परस्पर विरोधी संदर्भ हैं। बिल्कुल हाल ही में, उपनिवेशवाद के पश्चात् जान-बूझकर साहित्य को अंतरराष्ट्रीय स्तर प्रदान करने के प्रयास आरम्भ हुए। पहले भी 'पंचतंत्र', 'रामायण', 'महाभारत' देशकाल की सीमा लांघ चुके थे लेकिन उनके पीछे कोई अन्तरराष्ट्रीय तत्व नहीं था। हिन्दुस्तानी कथाएं कभी तो अनूदित होकर यूरोप में चली गईं और चॉसर और शेक्सपीयर ने उन्हें बेहिचक अपनी किताबों में प्रयुक्त कर दिया। इसके पीछे 'एक' संस्कृति का 'दूसरी' संस्कृति पर आरोपित होने का अंतरराष्ट्रीय तत्व नहीं था।" (आलोचना, जुलाई-सितम्बर, 2003)

"क्या दुर्भाग्य है कि मैं जिस समय में पैदा हुआ हूं
उसकी हर कील टेढ़ी है
और क्या सौभाग्य है
कि इन्हें ही सीधा करने के लिए मेरा जन्म हुआ है।

(हैमलेट, 5वां दृश्य)

शेक्सपीयर 17वीं सदी में अपने समय और साहित्य को लेकर चिन्तित ही नहीं था अपितु समकालीन नागरिकों की दायित्वहीनता से परेशान था। आज भी कतिपय युवा कवि अपने समय, समाज और संस्कृति के प्रति उदास और दुःखी है लेकिन उनको बदल पाने में उनकी मुट्ठी बंधी हुई है- "बरसों हो गए/मिलाए किसी से खुला हाथ/टकराती हैं अब मुट्ठियां बंधी हुई।" (मिट्टी के फल, प्रेमरंजन अनिमेष, पृ-113) अपने समय से एकान्त श्रीवास्तव भी हैरान और परेशान हैं- "नहीं बेटा, जब तक/हरे नहीं हो जाते/ ये सूखते पौधे/ हरा कैसे हो सकता है/मेरा मन।" (नागकेसर का देश यह, पृ-28)

आज रोजमर्रा की जिंदगी में भ्रष्टाचार, बलात्कार, आत्महत्या, हिंसा आदि की जितनी घटनाएं घट रही हैं लगता है कि समय को जैसे लकवा मार गया हो। हम मजबूर और हताश होकर देख और सुन रहे हैं। लीलाधर जगूड़ी अपनी कविता 'बुराइयों से घिरे समय में' लिखते हैं- "मैं बुराइयों से घिरे समय का अनादर्श कवि हूं/ जैसे मनुष्य समाज में वैसे/ मेरी कविता में भी बहुत कुछ गड़बड़ है/ मेरी कविता न नैतिकता के काम आ सकती है/न बेईमानी के/ बंधन तोड़ने की उम्मीद बंधा सकती है/शायद अपना दुस्साहस चमका-चमकाकर/ एक झूठे गवाह की तरह/मेरी कविता में बहुत कुछ गड़बड़ है।" (अनुभव के आकाश में - पृ. 139)

हम ऐसे अपसंस्कृति के समय और समाज के दौर से गुजर रहे हैं जहां हमारी

चेतना पर बर्फ गिर रही है और हम अपना चेहरा बदल-बदल कर स्वार्थ के वशीभूत होकर इधर-उधर नाच रहे हैं। पंकज चतुर्वेदी और पवन करण क्रमशः 'समय पर नहीं'- और 'चेहरा' शीर्षक कविता में लिखते हैं। ''कैसी निष्कवच रात है/हवाएं सर्द/ठण्ड से सिहरती त्वचा/अजीब-सी पीड़ा में थरथराते हैं/कान और तलवे/ठिठुरते हुए कहते हैं लोग/'बहुत जाड़ा है'/ संकुचित होती है/देह ही नहीं / भाषा भी / समय पर नहीं / चेतना पर/ गिरती है बर्फ। (एक ही चेहरा, पृ-87) ''वहां भीड़ बहुत थी/ और मेरे साथ समस्या थी/मेरे पास जो चेहरा था/ मेरे नाम पर / ठीक से नहीं चिपका था/ भीड़ में शामिल होते समय मैंने/ इस बात पर ध्यान नहीं दिया/ ..... जिससे भी पूछा/पता चला वहां असली/ किसी के पास नहीं था।'' (इस तरह मैं, पृ-74)

पहले हमारे जीवन में अभाव में सम्पन्नता थी लेकिन आज सम्पन्नता में भी विपन्नता की अनुभूति हो रही है। इसका कारण है कि मनुष्य के जीवन में असंतोष, मूल्यहीनता और संवेदनहीनता बढ़ती जा रही है। फलस्वरूप जीवन में अकेलापन, घुटन, संत्रास, डिप्रेशन, भागम-भाग आदि की वृद्धि हो रही है। मंगलेश डबराल 'आयोजन' कविता में लिखते हैं- ''इन दिनों हर कोई जल्दी में है/लोग थोड़ी-थोड़ी देर के लिए झलकते हैं अकेले पीते हुए / धुंधले आकारों जैसे वे एक-दूसरे की तरफ आते हैं/उनके हाथ में होता है वही अकेलेपन का गिलास।'' (आवाज भी एक जगह है, पृ-87) जिंदगी में अकेलेपन की पीड़ा के साथ-साथ विश्वव्यापी आतंकवाद की भयावहता से सम्पूर्ण मानवजाति आतंकित है। हम सुबह से निकलकर शाम को घर वापस आएंगे, इसकी कोई गारंटी नहीं है। अरुण कमल 'शिविर' नामक कविता में लिखते हैं। ''तुम देर न करो दोस्त लौट जाओ / जितनी जल्द घर पहुंच लो उतना अच्छा / मैं तो रास्तें में हूं ही।'' (पुतली में संसार, पृ-37)

आज राजनीति में से नीति गायब हो गई है और बचा है केवल राज। इस राज यानी सत्ता के लिए जो हथकंडे अपनाएं जा रहे हैं, हम सब उससे भली-भांति वाकिफ हैं। सम्प्रदाय की राजनीति के साथ जातिवाद का विष राजनीति में इस कदर फैल गया है कि उसने सम्पूर्ण मानवजाति को टुकड़ों-टुकड़ों में बांट दिया है- ''उन गलियारों की पहुंच से बाहर/ जहां इशारों में लिखे जाते फैसले/वे लिखे जाते जिन नजीरों से/अर्थ बदल जाते जाति के समीकरण में।'' (मगर एक आवाज-लीलाधर मंडलोई, पृ-56)

वर्तमान परिदृश्य के तमाम वैश्विक झंझावातों और विरोधों-अंतर्विरोधों के बावजूद शब्द और संस्कृति की अस्मिता कायम रहेगी। क्योंकि इसके मूल में मानवजाति का इतिहास छिपा हुआ है। जब तक पेड़-पौधे, नदी-नाले, पहाड़-समुद्र, सूर्य-चांद, पृथ्वी-आकाश, आग-पानी, हवा आदि प्राकृतिक संपदा और लोक-संस्कृति विद्यमान रहेगी तब तक रहेगी हमारी कविता। कविता मनुष्य की नैतिकता और

संवेदनशीलता का परिचायक है। एकांत श्रीवास्तव लिखते हैं-

वे रास्ते महान हैं जो पत्थरों से भरे हैं
मगर जो हमें सूरजमूखी के खेतों तक ले जाते हैं
वह सांस महान है
जिसमें जनपद की महक है
और वह हृदय खरबों गुना महान
जिसमें जनता के दु:ख हैं। (बीज से फूल तक- पृष्ठ 13)

भूंमडलीकरण, तकनीकी विस्तार, बाज़ारवाद, मीडिया विस्फोट आदि से साहित्य और संस्कृति के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है। विकास की प्रक्रिया में इसे रोका नहीं जा सकता। यदि परिवर्तन नहीं हुआ तो उसमें जड़ता आ जाएगी। लेकिन हमें यहीं पर यह भी ध्यान देना है कि परिवर्तन की इस आंधी में कहीं मनुष्य का हृदय ही न जड़ हो जाए। यदि ऐसा हुआ तो यह मानवता के लिए संकट का दौर होगा। किंतु ऐसा होगा नहीं ! इसे यहां मैं एक उदाहरण के माध्यम से अपनी बात की पुष्टि करना चाहता हूं। गोवा पर पुर्तगालियों का शासन लगभग साढ़े-चार सौ वर्षों तक रहा फिर भी यहां की संस्कृति पर उसका कोई खास असर नहीं हुआ है। यहां के लोक जीवन में अपनी भाषा-संस्कृति के प्रति आस्था कूट-कूट कर भरी हुई है। हमारी भाषा, साहित्य और संस्कृति में वह ताकत है कि समसामयिक भूमंडलीकरण से व्याप्त उष्णता को दूर करने के लिए ठंडे झरनों की शीतल फुहार सी आनंद देती रहेगी और इसके बीच भी शब्द की जीवंतता बनी रहेगी।

हिंदी विभाग,
गोवा विश्वविद्यालय, गोवा-403206
संपर्क - 09403272305
(0832) 2218010